Review Of Research
Vol. 3 | Issue. 10 | July. 2014
Impact Factor : 2.1002 (UIF)
ISSN:-2249-894X
Available online at www.lbp.world

ORIGINAL ARTICLE

समकालीन हिन्दी कविता का सामाजिक परिप्रेक्ष्य

डॉ. विशाल श्रीवास्तव
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, राजकीय महाविद्यालय, रानीगंज, प्रतापगढ़ (उ.प्र.)

शोध-सार :

यह शोध-आलेख समकालीन हिन्दी कविता के सामाजिक परिप्रेक्ष्य का बहुआयामी विश्लेषण प्रस्तुत करता है। समकालीन कविता अपने समय की जटिल सामाजिक संरचनाओं, बदलते जीवन-मूल्यों और वैश्वीकरण, उदारीकरण तथा उपभोक्तावाद से उत्पन्न स्थितियों को गहराई से अभिव्यक्त करती है। इस अध्ययन में यह प्रतिपादित किया गया है कि समकालीन हिन्दी कविता केवल भावनात्मक अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं है, बल्कि वह सामाजिक यथार्थ, असमानताओं, हाशियाकरण और सत्ता-संबंधों की आलोचनात्मक पड़ताल भी करती है। आलेख में प्रमुख सामाजिक आयामों का विश्लेषण किया गया है। सैद्धान्तिक स्तर पर यह अध्ययन कतिपय दृष्टिकोणों के आलोक में समकालीन कविता को समझने का प्रयास करता है, जिससे यह स्थापित होता है कि कविता सामाजिक संरचनाओं का प्रतिबिम्ब होने के साथ-साथ उन्हें प्रश्नांकित करने का भी माध्यम है। अंतत; यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है कि समकालीन हिन्दी कविता अपने सामाजिक परिप्रेक्ष्य में न केवल समय की सच्चाइयों को उद्घाटित करती है, बल्कि वह समाज में परिवर्तन और चेतना के विकास की दिशा में एक सशक्त हस्तक्षेप भी करती है।

कुंजी शब्द : समकालीन हिन्दी कविता, सामाजिक परिप्रेक्ष्य, असमानता, प्रतिरोध, सामाजिक-आर्थिक प्रश्न, श्रमिक वर्ग, अल्पसंख्यक वर्ग, दलित वर्ग।

कविता में समाजशास्त्र को अन्वेषित करना एक मुश्किल काम है। यह एक ऐसा क्षेत्र है, जिससे हमेशा कला, सौन्दर्य व साहित्यिक मूल्य जैसे प्रतिमानों की दुहाई देकर बचा जाता है। इस प्रकार के विश्लेषण से बचाव का यह पक्ष कतई अस्वाभाविक नहीं है। कविता को सदैव लय, अनुभूति, माधुर्य आदि गुर्गों का ही संश्लेष माना जाता रहा है। छायावाद के बाद की कविता में विचार और आशय से भरी कविता के समय की वैचारिक पड़ताल की बात तो हुई, फिर भी वह बौद्धिकता के हाशिये में ही खड़ी रही। मतलब यह कि किसी भी समय में विचार और अध्ययन की शास्त्रीय पद्धति के रूप में कविता में समाजशास्त्रीय तत्त्वों के अन्वेषण का काम नहीं हुआ। भक्ति-काव्यों, जैसे- 'रामचरितमानस' व 'सूरसागर' के भी लोक-पक्ष को सदैव रेखांकित किया गया, इन विषयों पर काफी काम भी हुआ; परन्तु आधुनिक कविता में समाजशास्त्र को ध्यान में रखकर विश्लेषणों की हमेशा कमी रही है।

इस विषय पर बात करते हुए डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव ने लिखा है- "जैसे-जैसे नयी कविता के प्रतिमान स्पष्ट होते जा रहे हैं कुछ और भी बातें सामने आती जा रही हैं : संश्लिष्ट रूप में नये मानव की खोज नयी कविता का धर्म है, पर अलग-अलग कवियों में समग्रता और गहराई की जितनी अलग-अलग छाप आज दिखायी दे रही है, उतनी शायद किसी भी आवर्त में नहीं दिखायी दी।"[1]

कविता को समझने के लिए उसके आस्वाद के साथ ही उसके विचार-पक्ष को भी सदैव साथ में देखा जाता है। कविता का अच्छा या खराब होना विस्तृत आयामों और उद्देश्यों के अनुरूप निर्धारित किया जाता है। निश्चित रूप से हमें एक ऐसी ठोस समीक्षा पद्धति को अपनाना चाहिए, जो वस्तुगत आधारों पर कविता के सभी स्तरों को परख सके। यहाँ एक प्रश्न यह भी उठ सकता है कि वैचारिक आधारों पर कविता का मूल्यांकन कहीं उसके आस्वाद को प्रभावित तो नहीं करेगा? लेकिन आलोचना के नये प्रतिमान 'आस्वाद' और 'मूल्य' के बारीक फर्क को समझकर निर्मित किये गये हैं, जिससे कविता-जैसी सशक्त विधा के साथ हम एक वैचारिक अनुभूति की भी उम्मीद कर सकें।

कविता का समाजशास्त्र यही करने की कोशिश है। कविता जीवनानुभवों का निचोड़ होती है। समाजशास्त्रीय आलोचना का प्रयास है कि कविता में आये इन जीवनानुभवों से कुछ निष्कर्ष निकालकर ऐसी नूतन पद्धति या अवधारणा की निर्मिति करे जिससे सामाजिक परिप्रेक्ष्य के सापेक्ष हम कोई ऐसा परिणाम देख सकें जो कविता की आस्वादमय रचनात्मकता को प्रतिष्ठित और परिभाषित कर सके।

'साहित्य और समाज' जैसे सन्दर्भ को जो पिटा हुआ मानकर दरकिनार करना चाहेंगे उन्हें यह तो सोचना पड़ेगा कि कला, साहित्य और संस्कृक्ति का समाज से जो रिश्ता इस शताब्दी के तीसरे चौथे दशक तक बना हुआ था, वह आगे कमज़ोर क्यों हुआ है?

भारतीय समाज की कई मौलिक समस्याएँ हैं। समकालीन कविता में भारतीय समाज के विविध पहलुओं के बारे में विचार करते समय हमें कई अवयवों के बारे में सोचना पड़ता है। सबसे पहले विषम सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के बारे में, जो किसी भी सामाजिक संरचना का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। कोई भी समाज अपने विभिन्न स्तरों पर जिन जटिलताओं से दो-चार होता है, चाहे अनचाहे वे साहित्य का एक हिस्सा बनती हैं। हम इसी वैषम्य को अलग-अलग कविता-समयों में देख और विश्लेषित कर सकते हैं। मध्यवर्गीय समाज की सामाजिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं का भी अध्ययन इसी प्रक्षेत्र में किया जा सकता है। इसी प्रकार, हाशिये के समाज के वे लोग जो मुख्यधारा की विकास-प्रक्रिया से अलग रह जाने के कारण पीछे छूट गये हैं, जैसे- कामगार या श्रमिक वर्ग, दलित-वर्ग, नारी समाज तथा अल्पसंख्यक वर्ग: ये कुछ ऐसे वर्ग-विशेष हैं जो सामाजिक संरचना का अपरिहार्य अंग होते हुए भी उपेक्षा के कारण हाशिये पर चले गये हैं। समाजशास्त्रीय पक्ष इन्हीं उपक्षेत्रों में इन वर्गों के वास्तविक स्वरूप का आकलन कर सकता है।

सामाजिक-आर्थिक प्रश्न और समकालीन कविता :

आम लोगों की ज़िन्दगी से जुड़े सामाजिक-आर्थिक प्रश्न सदैव से ही साहित्य की तमाम विधाओं में अभिव्यक्त होते रहे हैं। प्रायः ये सत्य कवि की अपनी वास्तविक ज़िन्दगी में भी अनुभूत होते रहे हैं। यही कारण है कि इन पक्षों के चित्रण में एक नयी जीवनदृष्टि और ईमानदारी का पक्ष प्रबल रूप से परिपक्व होता रहा है। इस विषय पर बात करते समय सम्भावनाओं का एक विस्तृत फलक हमारे सामने रहता है, जिसमें तमाम सम्भावनाओं और परिदृश्यों का कैनवस उपस्थित होता है।

जहाँ हम एक ओर जटिल होते पारिवारिक समीकरणों के बारे में बात करते हैं, वहीं बिगड़े हुए इस समय में कवि की स्थिति, मूल्यों से विमुखता की अपरिहार्यता से भरा जीवन, उत्तरदायित्वों से कटते जाने और आत्म-केन्द्रित होते जाने की सुलभ प्रवृत्ति आदि कुछ ऐसे बिन्दु हैं जो हमारी सामाजिक संरचना में कमोबेश उपस्थित भी हैं, और साथ ही उनका समकालीन कविता के कतिपय उदाहरणों में चित्रण भी हुआ है :

लगभग मुँह-अँधेरे एक गिलास पानी पीकर
गया मैं ग्राउंड को जहाँ छिंदवाड़ा की बड़ी भीड़ जमा हो रही थी
छोटे लड़कों और बड़े लड़कों के अलग-अलग घरों में
स्कूलवार बैठाला गया खुले में
शामियाने के नीचे कुर्सियों पर बैठे थे
कोयला खदानों के मैनेजर ठेकेदार सिनेमा के मालिक
शहर के बड़े सेठ और साहूकार
अफसर और कांग्रेसी नेता तो थे ही मास्टर कुछ दूर अलग बैठाले गये थे।' [2]

समकालीन समाज के विभिन्न स्तरों पर विपुलता से फैले वैषम्य का सटीक चित्रण विष्णु खरे की इस कविता में मिलता है। कवि समाज के कुछ अलग-अलग तबकों के दृष्टिकोण से स्वर्ण-जयन्ती-वर्ष के आयोजन को देखता है। यहाँ यह समारोह एक प्रतीक है, जिसमें असहाय बच्चे से लेकर बड़े सेठ तक फैले समाज की स्थिति का विवरण है। सामाजिक सभ्यता की अवनति के प्रतीक के रूप में कवि समय को देखता है, जिसमें नेताओं, सिनेमा के मालिक और खदानों के मैनेजर को शामियाने में बिठाया जाता है और शिक्षकों को दूर और अलग। प्रायः यह एक विषण्ण अभिव्यक्ति है, सामाजिक संक्रमण के इस समय में नैतिक प्रतिष्ठा की दुरवस्था को लेकर।

यह जटिलता और संवेग के सामान्य अनुभव का एक मुहाव रा भी हो सकता है। पर अनिवार्य रूप से हमें यह याद रखना होगा कि ऐसे ही मुहावरे और प्रत्यय समकालीन कविता में प्रतिदर्श के रूप में समाजशास्त्रीय प्रतिमानों का विकास सम्भव बनाते हैं। एक सार्वभौमिक अंगीकार के रूप में यह बिम्ब सामाजिक अन्तर्बोध की दुरवस्था का प्रतीक प्रस्तुत करता है।

कामगार व श्रमिक वर्ग और समकालीन कविता :

श्रमिक वर्ग की समस्याओं का चित्रण सदैव समकालीन कविता का अनिवार्य पक्ष रहा है। साहित्य की सामाजिक दृष्टि सर्वहारा और श्रमिक वर्ग के साहित्य में चित्रण की खोज करती है। प्रवृत्ति के रूप में तो इसे छायावाद से उपजा भी माना जा सकता है, क्योंकि छायावाद के समय की काफ़ी कविताओं में इस प्रकार का आग्रह देखने को मिलता है। कालान्तर में, छायावाद की पृष्ठभूमि से उपजे प्रगतिवाद में इस चेतना पर काफ़ी बल दिया गया। साठोत्तरी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियों में श्रमिक वर्ग के प्रति सहानुभूति का स्वर माना गया है।

साहित्य के समाजशास्त्र में इस प्रकार के आग्रह को मार्क्सवादी एवं यूरोपीय चिन्तन के प्रतिदर्श के रूप में देखा जा सकता है। मार्क्सवाद की जो ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है वह सिरे से सामाजिक एकरूपता एवं उसके क्रियान्वयन के लिए श्रमिक वर्ग को अधिक अधिकार एवं प्रतिष्ठा की माँग करती है। संस्कृति और कला की अधिगत धारणा के प्रयोजनों के सापेक्ष समाजवाद की मौलिक अवधारणाओं की पूर्ति के लिए कविता का यह नया शास्त्र मात्र लफ्फाज़ी नहीं करता; अपितु उस समीक्षा की माँग करता है, जो श्रम की प्रतिष्ठा के लिए विश्वासपूर्वक ऐसी सामाजिक स्थापनाओं को प्रबल कर सके।

समकालीन हिन्दी में ऐसे स्वर की कमी नहीं है। मुख्य रूप से यह एक प्रकार की धारा से जुड़ा हुआ माना जा सकता है, परन्तु यहाँ महत्त्वपूर्ण यह है कि जो हाथ मजदूरी करके रोटी कमाते हैं, वही हमारी बड़ी कल्पनाओं का रेशम बुनते हैं। श्रमिक वर्ग को ध्यान में रखकर लिखी हर कविता यही तथ्य रेखांकित करती है। सामाजिक अवधारणाओं में इस तथ्य को एक प्रमुख बिन्द के रूप में देखा जा सकता है। इसी सन्दर्भ में मंगलेश डबराल की यह कविता द्रष्टव्य है-

मैंने भी झेंप मिटाने को रक्खा एक रुपैया
उसके गूँज रहे हारमोनियम पर
मुझे पता था भीख गरीब को और गिरा देती है नीचे
और इसलिए ज्यादा नीचे गिरने से पहले ही
लड़का बस से उतर गया बहन का हाथ खींच कर
शायद किसी और बस में उसे गाने के कुछ ग्राहक मिल जायेंगे। [3]

बस में गाना गाकर पैसा कमाने वाले बच्चे की संवेदना पर लिखी गयी इस कविता में उसके श्रम का सूक्ष्म अनुवाद देखने को मिलता है। कई रूपकों से कवि ने साधारण बच्चे के कच्चे पक्के गले की अतुलित सामर्थ्य की फँटसी गढ़ी है। फटी पैंट सँभालते हुए छोटी बहन का ख्याल रखने की उसकी व्यावहारिकता और साथ ही पूरी उस्तादी से नन्हें हारमोनियम पर सधा हुआ गायन उसे कवि की नज़रों में विशेष बनाते हैं।

समकालीन हिन्दी कविता में विविध स्तरों पर तमाम नये पुराने कवियों ने सामाजिक परिप्रेक्ष्य में श्रमिक और कामगार वर्ग की समस्याओं, उनके मनोभावों, वैचारिक स्तरों तथा समकालीन समाज में उनकी की जा रही उपेक्षा का सटीक चित्रण किया है। वर्णन के इस विस्तृत कैनवस का ताना-बाना इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि इतनी गहरी संवेदना और बारीकी से सम्भावनाओं का आविष्कार ही समाजशास्त्रीय विश्लेषण की इस प्रक्रिया में अध्ययन और प्रविधि के संतुलन के साथ नयी परिधियों और साथ ही आलोचना की नयी प्रेरणा- भूमियों को उद्भूत कर सकता है।

स्त्री-विमर्श और समकालीन कविता :

भारतीय समाज में नारी की स्थिति कभी भी सम्मानजनक नहीं रही। शोषण, बलात्कार और उपेक्षा के बढ़ते आँकड़ों से यह काफ़ी स्पष्ट है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' की अवधारणा रखने वाले भारतीय समाज में आदिकाल से ही स्त्रियों के प्रति विशेष सम्मान की सम्मति रखी गयी थी। पर, आज ही नहीं, पौराणिक काल से ही इतिहास को देखें तो उपेक्षा और शोषण का यह क्रम अनवरत जारी रहा है।

संस्कारों और मर्यादाओं की परिधि में बँधी भारतीय नारी के लिए सहना और जीते रहना नियति है। नारी की इस स्थिति को साहित्य में उकेरने के प्रयास काफी पुराने हैं। जहाँ प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में नारी की स्थिति को लेकर काफ़ी गम्भीर चिन्तन और ऊहापोह किया है, वहीं कवियों में भी, खासकर छायावाद और उसके बाद की हिन्दी कविता में नारी-विमर्श को केन्द्र में रखकर पर्याप्त लेखन हुआ है।

समकालीन हिन्दी कविता भी इस ओर पर्याप्त सजग रही है। संवेदना और शिल्प का जो गम्भीर विमर्श समकालीन कविता का केन्द्रीय पक्ष है, उसने नारी-विमर्श के अध्याय को भी अपने प्रक्षेत्र के भीतर समाहित किया है। इस विषय को जितने सूक्ष्म प्रेक्षण और गम्भीर वैचारिक स्तर के उल्लेख की आवश्यकता है, वह समकालीन कविता के विभिन्न हस्ताक्षरों ने इसे उपलब्ध कराया है :

एक औरत के हाथ जल गये हैं तवे से
एक के ऊपर तेल गिर गया है कड़ाही का खौलता हुआ
अस्पताल में हजार प्रतिशत जली हुई औरत का
कोयला दर्ज कराता है अपना मृत्यु-पूर्व बयान
कि उसे नहीं जलाया किसी ने
उसके अलावा बाकी हर कोई है निर्दोष
गलती से उसके ही हाथों फूट गयी किस्मत और फट गया स्टोव [4]

उदय प्रकाश की कविता ' औरतें' अलग-अलग मगर प्रभाव में एक-सी परिस्थितियों में जूझती स्त्री के विभिन्न पक्षों को उद्घाटित करती है। यौन शोषण की शिकार कामकाजी औरतों की चिन्ता हो, या घरेलू औरत की अपने शराबी पति के प्रति प्रतिबद्धता, या फिर ससुराल में जला दी गयी औरत का भय, सब जगह एक तरह की नीरवता व्याप्त है नारी के चरित्र में। समकालीन समाज में नारी की भयभीत और सहमी हुई छवि, जो प्रायः हर छोटे-बड़े कदम के लिए पुरुष पर आश्रित है, ज़्यादा व्यापक है। अपने सर्जना-कर्म के दौरान तमाम कवियों ने अपने अनुभवों और सम्भावनाओं के आविष्कार से समकालीन साहित्य में नारी की विभिन्न मोर्चों पर उपस्थिति, उसकी समस्याओं और समतामूलक आदर्शवाद के परिप्रेक्ष्य में उसके भविष्य के बारे में विस्तार से अन्वेषण किया है। सामाजिक फलित के दृष्टिकोण से यदि देखें तो यह सम्भव लगता है कि भारतीय कविता के कैनवस पर नारी-विमर्श को लेकर सार्थक बातचीत हो सकती है।

दलित और उपेक्षित समाज और समकालीन कविता :

हाल के कुछ वर्षों में बदलते राजनीतिक-सांस्कृतिक परिदृश्य के चलते दलित-चेतना को हिन्दी साहित्य में प्रमुख स्थान मिला है। हाशिये के लोगों की संकल्पना में प्रमुख स्थान दलित और अन्य उपेक्षित समाज का ही है। एक हवा-सी चल पड़ी है, व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन की तरह। यहाँ तक कि हिन्दी साहित्य के समानान्तर एक 'दलित साहित्य' की भी परिकल्पना कर डाली गयी है। दलित साहित्य पर काफ़ी काम हुआ है और किया जा रहा है। सामाजिक समरसता को एक मुहावरे की तरह गढ़ने में इस प्रकार के साहित्य का बड़ा योगदान है। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में वस्तुतः दलित चेतना को महत्त्व दिया भी जाना चाहिए। व्यापक रूप से पिछड़े और सांस्कृतिक, साहित्यिक और राजनीतिक रूप से दबाये गये समाज का आगे बढ़ाने का ही कार्य तो समाजशास्त्र करता है। साहित्य के समाजशास्त्र में भी दलित और उपेक्षित वर्ग के प्रति लिखे गये साहित्य का अध्ययन एक उद्देश्यपूर्ण प्रविधि है।

समकालीन कविता में दलित वर्ग की विभिन्न समस्याओं और परिस्थितियों का विशद चित्रण देखने को मिलता है। हालाँकि विमर्श के रूप में दलित-चेतना का यह मुहावरा काफ़ी नया है, फिर भी आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की परिकल्पना के रूप में उपेक्षित वर्ग को ध्यान में रखकर लिखी गयी कविताएँ दुर्लभ नहीं है:

खबर थी कि
जंगल में खिरनी के पेड़ के नीचे सोये
एक भील बालक को सपने में
ऐरावत भी चाहिए और लक्ष्मी भी
पूरे स्वर्ग में मानो आ गया भूचाल
इसमें भूचाल की क्या बात
अवसरों पर इतना एकाधिकार भी ठीक नहीं
ऋषि, मुनि सब बैठे होने लगा चिन्तन
चिन्तन-मण्डल की हुई कई बैठकें-
कि इस भील बालक की आकांक्षा को
कैसे नियंत्रित किया जाय
अनुकूलन की समस्त तकनीकों पर किया गया विचार
कि इसे कैसे अनुकूलित किया जाय,
ये इच्छाएँ भी ऐसी हैं कि इस अखण्ड में
इनका समाहन भी संभव नहीं
गहन चिन्तन करते हुए कि एक चिन्तन ने दिया विचार-
कुछ नहीं तो 'वध' वध ही है अंतिम रास्ता
देखिये, कितना निरर्थक है इनका दिव्य ज्ञान
कि एक भील लड़के के सपने में पल रही आकांक्षाओं के लिए
उसे मौत मुकर्रर किया गया। [5]

बद्रीनारायण की यह कविता दलित वर्ग की सुप्त आकांक्षाओं के प्रदीपन और उनके दमन का सशक्त चित्र है। शास्त्रीय और पौराणिक ढंग के इस मिथक में निर्दोष बालक की सपने में पल रही अभिलाषाओं का वर्णन है, जिसे 'सपने में' ऐरावत और लक्ष्मी चाहिए। सपने में इन अभिलाषाओं से कथित-कुलीन देव-समाज घबराकर उसे मृत्युदंड दे देता है। यह हमारे समकालीन समाज की ही प्रतिच्छवि है, जिसमें कुचले हुए लोगों के सपनों के प्रति किसी को कोई सहानुभूति नहीं होती।

बदले हुए इस समय में जब हर चीज़ बड़ी तैज़ी के साथ बदल रही है, दलित वर्ग की भी स्थिति में परिवर्तन आ रहे हैं। पढ़े-लिखे दलितों का नौकरियों में आ जाना और शिक्षा तथा व्यापार के क्षेत्र में मिल रहे समान अवसरों ने उन्हें आत्मसक्षम बनाने में मदद की है। साहित्य में भी इस बदलाव का व्यापक असर हुआ है। इन बदले हुए परिदृश्यों का अनुभव समकालीन कविता में प्रदर्शित होने लगा है। आलोचना की शास्त्रीयता के सन्दर्भ में इन अनुभवों को व्यापकता के प्रतिमान के रूप में देखा जा सकता है।

अल्पसंख्यक समाज और समकालीन कविता :

उदार भारतीय संस्कृति का लक्ष्य सदैव से ही साझा, उदार और मजबूत परम्परा तथा इसके पक्ष में खड़े होने वाले जन-समीकरणों को बढ़ावा देना रहा है। पर आज धर्म की बाज़ीगरी ने विघटन को बढ़ावा दिया है। राजनीति में मध्यमार्गी नेताओं के संकुचित व्यक्तित्व और निर्णयहीनता ने सम्प्रदायवाद को अमानुषिक बनाया है :

बाकर अली
बनाते थे खड़ाऊँ अयोध्या में
खड़ाऊँ जाती थी मंदिरों में
रामजी के शुक्रगुजार थे बाकर मियाँ
अल्लाह भी खुश था
उसके बन्दे को मिल रहा था
दाना-पानी
नमाज और समाज अयोध्या में
एक दिन जला दी गयी
बाकर मियाँ की दुकान

गहरे संकट के इस समय में भी साहित्य से यह उम्मीद की जाती है कि पंथनिरपेक्षता के सृजन से वह ऐसी स्थितियों को जन्म देगा जिससे निरपेक्षता का बहुमत बनाया जा सके। समकालीन हिन्दी कविता में भी अल्पसंख्यक समाज के व्यक्तियों को केन्द्र में रखकर रचना हुई है।

समकालीन कविता में उद्भावना की समाजशास्त्रीय स्थितियों पर बात करते हुए हमने एक बड़े कैनवस को विश्लेषण का आधार बनाया है। यथार्थवादी विकास की अभिदृष्टि से देखते हुए यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि रचना के सामाजिक परिप्रेक्ष्य के मद्देनज़र किसी सोची-समझी योजना के अन्तर्गत नहीं, तो कम-से-कम प्रवृत्ति के रूप में ही विभिन्न कवियों की अभिव्यक्ति में सामाजिकता का पक्ष कहीं-न-कहीं विद्यमान है।

कविता एक अभिधामूलक विधा है। उपन्यास और कहानी जैसी विधाओं में जहाँ विषय के विस्तार और पात्रों-चरित्रों के विशद वर्णन की गुंजाइश रहती है, सामाजिक परिप्रेक्ष्य पर अधिक सम्भावना के साथ विचार किया जा सकता है। सामाजिक स्थितियों के सटीक विश्लेषण के लिए जिन विवरणों की आवश्यकता रहती है, जैसे- सम्बन्धित देशकाल, वातावरण, पात्रों को वास्तविक सामाजिक-आर्थिक स्थिति आदि, ये सभी चीजें इन विधाओं में समूचे विस्तार के साथ उपस्थित रहती हैं। यही कारण है कि साहित्य में समाजशास्त्र को लेकर जिनते भी कार्य हुए हैं, उनमें अधिकांश (या कह लें कि सभी) कहानी या उपन्यास के समाजशास्त्र को लेकर ही हुए हैं। ल्यूसिएँ गोल्डमान, जिन्हें समाजशास्त्रीय अध्ययन के पुरोधा के रूप में माना जाता है, ने भी लगभग सारा काम उपन्यासों पर ही किया है। भारतीय साहित्य में भी प्रायः अधिकतर समाज-शास्त्रीय समीक्षा-कर्म उपन्यास को लेकर ही हुआ है। वस्तुतः सच तो यह है कि कविता, जो अभिव्यक्ति का प्रमुख पक्ष हुआ करती थी, आज हाशिये पर चली गयी है।

इन विरोधाभासों के बावजूद यह अध्ययन हमें बताता है कि समकालीन कविता में समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की सम्भावनाओं में कहीं से कमी नहीं है। यह बात और है कि इस सन्दर्भ में पर्याप्त प्रयास नहीं हुए हैं। लोक के परिप्रेक्ष्य से जुड़ी कविताओं में विविध स्तरों

पर जिस प्रकार के सा◌ामजिक अवयवों का निदर्शन होता है, वह व्यापक रूप से कविता-जैसी विधा के ससमाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को सम्पूर्णता से परिभाषित करता है। कविता के समाजशास्त्र की व्याख्या के रूप में हम यदि देखें तो 'समाज' का यह अध्ययन एक नयी प्रविधि के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है, जहाँ विभिन्न कारणों से हाशिये पर चले गये लोगों और उनके वर्गों की सामूहिक समस्या के बारे में विचार किया गया हो। हमारे समाज की मुख्य धारा से कटकर रह गये इन वर्गों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति का भविष्य इन कविताओं के माध्यम से विन्यस्त होता है।

संदर्भ-सूची :

1. परमानन्द श्रीवास्तव : कविता का अर्थात, पृ. 155
2. विष्णु खरे : स्वर्ण जयन्ती वर्ष में एक स्मृति, सदी के अंत में कविता, पृ. 33
3. मंगलेश डबराल : गाता हुआ लड़का (रघुवीर सहाय की स्मृति में), सदी के अंत में कविता, पृ. 98
4. उदय प्रकाश: औरतें, सदी के अंत में कविता, पृ. 105
5. बद्री नारायण : मौत मुकर्रर किया गया, सदी के अंत में कविता, पृ. 199